विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ

1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010

फोन : 0734-2521499, 0755-2660407

Email : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

Web : www.mvspujjain.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-2

भारतीय नीति कथाओं की वैश्विक पहचान
चंद्रशेखर बैस

पृष्ठ क्र. 3-4

लिपियों का विकास एवं मानव सभ्यता
रितु मिश्र

पृष्ठ क्र. 5-6

भोज का युक्तिकल्पतरू और नौका शास्त्र
राजेन्द्र वर्मा

पृष्ठ क्र. 7

कला का विज्ञान से सम्बन्ध
मनीष रत्नपारखी

पृष्ठ क्र. 8

नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र की वृहद व्याख्या
मिथिलेश यादव

भारतीय नीति कथाओं की वैश्विक पहचान

चंद्रशेखर बैस

संस्कृत भाषा में निबद्ध कथाओं का प्रचुर साहित्य है, जो सैकड़ों वर्षों से मनोरंजन करता हुआ उपदेश देता आ रहा है। संस्कृत की कहानियों का सर्वश्रेष्ठ तथा प्राचीन संग्रह है– 'पंचतन्त्र'। दक्षिण में महिलारोप्य नामक नगर में अमरकीर्ति राजा के मूर्ख पुत्रों को नीति तथा व्यवहार की शिक्षा देने के लिए विष्णु शर्मा ने इस ग्रंथरत्न का प्रणयन किया था। इसके अनेक संस्करण भिन्न–भिन्न शताब्दियों में तथा भारत के भिन्न–भिन्न प्रांतों में होते रहे हैं। नीतिकथा एक साहित्यिक विधा है जिसमें पशु–पक्षियों, पेड़–पौधों एवं अन्य निर्जीव वस्तुओं को मानव जैसे गुणों वाला दिखाकर उपदेशात्मक कथा कही जाती है। नीतिकथा, पद्य या गद्य में हो सकती है। पंचतन्त्र, हितोपदेश आदि प्रसिद्ध नीतिकथाएँ हैं। भारतीय जीवन का प्राकृतिक पदार्थों के साथ इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया था कि पशु–पक्षियों आदि के उदाहरणों से व्यावहारिक उपदेश देने की प्रवृत्ति वैदिक काल से ही लक्षित होती है। मनुष्य और मछली की कथा ऋग्वेद में प्राप्त होती है। छान्दोग्योपनिषद में भी उद्गीथ श्वान का आख्यान वर्णित है। पुराणों में तो बहुत सी नीति–कथाएँ प्राप्त होती है। महाभारत में विदुर के मुख से ऐसी ही अनेक कथाएँ कहलाई गई है। तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के भरहुत के स्तूप पर बहुत ही नीति–कथाओं के नाम खुदे है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में भी 'अजाकृपाणीय' और 'काकतालीय' जैसी लोकोक्तियों का प्रयोग किया है।

जैनों और बौद्धों की लिखी हुई नीति–कथाएँ भी इसी समय की हैं। एक चीनी विश्वकोष में अनेक भारतीय नीति–कथाओं के अनुवाद उपलब्ध होते हैं। ये कथाएँ जैसा कि उस विश्वकोश में निर्दिष्ट है, बौद्ध ग्रन्थों से संग्रहीत हैं, जिनकी संख्या प्रायः 200 लिखी हुई है। इन सब प्रमाणों क आधार पर यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि नीति–कथाएँ भारत की ही अपनी वस्तु हैं, जिन्हें अन्य देशों ने उनसे उधार लिया है तथा यह भी ज्ञात होता है कि यह ईसा पूर्व पर्याप्त संख्या में विद्यमान थी। 'पंचतन्त्र' संस्कृत नीतिकथा–साहित्य का अत्यन्त विश्व प्राचीन और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें नीति की बड़ी उपादेय, शिक्षाप्रद और मनोहर कहानियाँ हैं। बीच–बीच में सारगर्भित और निष्कर्षमय पद्यों का भी सन्निवेश हुआ है। इस ग्रन्थ के रचनाकाल का तो पता नहीं लगता है, पर यह ज्ञात होता है कि लगभग छठी शती के बादशाह नौशेरखां के आदेश से पहलवी भाषा में पंचतन्त्र का अनुवाद 'बुराजोई' नामक हकीम ने किया। यह अनुवाद उपलब्ध नहीं है। उनमें सीरियन तथा अरबी रूपान्तर प्राप्त होते हैं जिनके नाम क्रमशः 'कलिलंग दिमनग' (570) और 'कलिलह विमनह' (750) हैं। इससे ज्ञात होता है कि पुस्तक का नाम उस समय कदाचित् 'करकट और दमनक' रहा होगा। यह तो प्रत्यक्ष है कि पंचतन्त्र 550 ई. में उसके पहलवी में अनूदित किये जाने के समय के पूर्व पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुका था।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र का उस पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इसके अतिरिक्त उसमें स्वयं विष्णुगुप्त का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। 'दीनार' शब्द का प्रयोग भी ईसा के बाद की रचना सिद्ध करता है। पंचतन्त्र का रचना काल 300 ई. के लगभग माना जा सकता है। यद्यपि पंचतन्त्र अपने मूलरूप में नहीं प्राप्त होता, परन्तु उसके कई संस्करण प्राप्त होते हैं, जिनसे उसकी भाषा शैली और विषय का आभास मिलता है। इस प्रकार से पंचतन्त्र एक विपुल आख्यान साहित्य का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। पंचतन्त्र की रचना का मूल उद्देश्य राजनीति की शिक्षा देना है, जैसा कि लेखक विष्णु शर्मा ने स्वयं प्रस्तावना में लिखा है। इस ग्रन्थ में अब मित्रभेद, मित्रलाभ, सन्धिविग्रह, लब्धप्रणाणश तथा अपरीक्षितकारकम् पाये जाते हैं। परन्तु इसके पहले बारह तन्त्र रहे होंगे, जैसा कि प्राचीन स्वरूपों से

ज्ञात होता है। ग्रन्थ में पशु–पक्षी आदि सदाचार, नीति एवं लोक व्यवहार के विषयों में बातचीत करते हैं, जिनमें लेखक की चुहुल, विनोदप्रियता तथा छेड़छाड़ सर्वत्र समान रूप से देखी जा सकती है। ग्रन्थ की भाषा चलती हुई सरल, मुहावरेदार तथा ग्रन्थ के पूर्णतः अनुरूप है। उसका गद्य सुबोध भाषी है, समास छोटे–छोटे से हैं तथा वाक्य विन्यास में दुरूहता नहीं है।

कथानक का वर्णन गद्य में किया गया है पर उपदेशात्मक सूक्तियाँ पद्यों में है, जो प्राचीन ग्रन्थों महाभारत एवं जातक आदि से संग्रहीत है। लेखक की कुशलता उन पद्यों के चयन तथा कथानक में यथा स्थान उनके बैठाने में है। पंचतन्त्र की कथाओं का प्रचार विश्वव्यापी हो चुका है। पंचतन्त्र ही संसार की सबसे अधिक प्रचलित पुस्तकों में से एक है जिसका अनुवाद प्रायः पचास भाषाओं में हो गया है। नीति कथाओं में पंचतन्त्र के बाद हितोपदेश का स्थान है। इस ग्रन्थ के रचयिता नारायण पंडित थे, जिनके आश्रयदाता धवलचन्द्र, बंगाल के कोई राजा थे। इस ग्रन्थ की एक पाण्डुलिपि 1373 ई. की प्राप्त होती है। तेरहवीं शताब्दी के पूर्व ग्रन्थ की रचना होना सिद्ध हो जाता है। इस ग्रन्थ का आधार पंचतन्त्र है। इस तथ्य को ग्रन्थकार ने स्वयं अपनी प्रस्तावना में स्पष्टः स्वीकार किया है – ''पंचतन्त्रातथान्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते ''। हितोपदेश की 43 कथाओं में से 25 कथाएँ तो पंचतन्त्र से ही ली गई हैं। प्रथम दो परिच्छेद मित्रलाभ और सुहृदभेद का आधार पंचतन्त्र ही है। हितोपदेश में चार परिच्छेद है– मित्रलाभ, सृहृदभेद, विग्रह, और सन्धि। हितोपदेश में पद्यों की संख्या अधिक है। कहीं–कहीं तो इनका इतना अधिक बाहुल्य हो गया है कि कथा के प्रवाह की स्वाभाविक गति में व्याघात सा पड़ता प्रतीत होता है। ये पद्य अन्य प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त कामन्दकीय नीतिसार से पर्याप्त मात्रा में लिये हैं और अत्यन्त उपदेशपूर्ण हैं। इसकी भाषा सरल, स्वाभाविक और सुबोध और शैली सहज ही में समझ में आ जाने वाली है।

इस ग्रन्थ का प्रचार भारतवर्ष में पंचतन्त्र से कहीं अधिक है। जैसा कि अभी लिखा जा चुका है, ये पद्य अत्यन्त उच्च कोटि की नैतिक शिक्षा के आदर्श को प्रतिपादित करते हैं। संस्कृत साहित्य में स्थान–स्थान पर आदर्श या उपदेश की प्रवृत्ति स्पष्ट लक्षित होती है। काव्यों और नाटकों में ऐसे अनेक पद्य मिलते हैं जिनमें सूक्तियों के माध्यम से नीति अथवा सदाचार का उच्च आदर्श उपस्थित किया गया है। इस उपदेशात्मक प्रवृत्ति का पूर्ण परिपाक नीतिकथाओं में स्पष्ट होता है। ये नीति कथाएँ बालोपयोगी हैं और इनमें कथा के बहाने नीति के रहस्यों को समझाया गया है। इनमें मानव पात्र न होकर जीव–जन्तु या पशु–पक्षी पात्र हैं। ये मुख्यतया नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र से सम्बद्ध हैं। इनमें जीवन का व्यावहारिक पक्ष वर्णित हैं। दैनिक जीवन, दैनिक व्यवहार, व्यक्ति और समाज का सम्पर्क, कर्तव्य–अकर्तव्य का उपदेश आदि वर्णित हैं। धर्मशास्त्र से भी इनका सम्बन्ध है। इनमें जीवन के भले और बुरे दोनों पक्षों का वर्णन है। जैसे– जीवन की पवित्रता, कर्तव्यपालन, मित्र की रक्षा, वचन–पालन आदि गुणों के वर्णन के साथ ही ब्राह्मणों का छल–प्रपंच और दम्भ, अन्तःपुर के कपट–व्यवहार, स्त्रियों की दुश्चरित्रता आदि दोषों का भी वर्णन है। इन कथाओं में जीवन का लक्ष्य आदर्शवादिता न बताकर लोक–व्यवहारज्ञता और नीति निपुणता बताया गया है।

पंचतन्त्र की कहानियों की रचना का इतिहास भी बड़ा ही रोचक हैं। लगभग 2000 वर्षों पूर्व भारत वर्ष के दक्षिणी हिस्से में महिलारोप्य नामक नगर में राजा अमरशक्ति का शासन था। उसके तीन पुत्र बहुशक्ति, उग्रशक्ति और अनंतशक्ति थे। राजा अमरशक्ति जितने उदार प्रशासक और कुशल नीतिज्ञ थे, उनके पुत्र उतने ही मूर्ख और अहंकारी थे। राजा ने उन्हें व्यवहारिक शिक्षा देने व्यवहारिक शिक्षा देने की बहुत कोशिश की परंतु किसी भी प्रकार से बात नहीं बनी। हारकर एक दिन राजा ने अपने मंत्रियों से मंत्रणा की। राजा अमरशक्ति के मंत्रिमंडल में कई कुशल, दूरदर्शी और योग्य मंत्री थे, उन्हीं में से एक मंत्री सुमति ने राजा को परामर्श दिया कि पंडित विष्णु शर्मा सर्वशास्त्रों के ज्ञाता और एक कुशल ब्राह्मण हैं, यदि राजकुमारों को शिक्षा देने और व्यवहारिक रूप से प्रशिक्षित करने का उत्तरदायित्व पंडित विष्णु शर्मा को सौंपा जाए तो उचित होगा, वे अल्प समय में ही राजकुमारों को शिक्षित करने की सामर्थ रखते हैं।

राजा अमरशक्ति ने पंडित विष्णु शर्मा से अनुरोध किया और पारितोषिक के रूप में उन्हें सौ गाँव देने का वचन दिया। पंडित विष्णु शर्मा ने पारितोषिक को तो अस्वीकार कर दिया, परंतु राजकुमारों को शिक्षित करने के कार्य को एक चुनौती के रुप में स्वीकार किया। इस स्वीकृति के साथ ही उन्होंने घोषणा की कि मैं यह असंभव कार्य मात्र छः महिनों में पूर्ण करूँगा, यदि मैं ऐसा न कर सका तो महाराज मुझे मृत्युदंड दे सकते हैं। विष्णु शर्मा की यह भीष्म प्रतीज्ञा सुनकर महाराज अमरशक्ति निश्चिंत होकर अपने शासन कार्य में व्यस्त हो गए और पंडित जी तीनों राजकुमारों को अपने आश्रम में ले आए। राजा ने हर्षपूर्वक तीनों राजकुमारों की जिम्मेदारी विष्णु शर्मा को दे दी। विष्णु शर्मा जानते थे कि वे उन राजपुत्रों को पुराने तरीकों से कभी नहीं पढ़ा सकते। उन्हें थोड़ा सरल तरीका अपनाना होगा तथा वह तरीका था उन्हें जन्तु कथाओं की कथाएँ सुनाकर आवश्यक बुद्धिमता सिखाने का। इसलिये उन्होंने उन्हें शिक्षित करने हेतु कुछ कहानियों की रचना की जिनके माध्यम से वे उन्हें नीति सिखाया करते थे। वह प्रतिदिन राजकुमारों को नई–नई कहानियाँ सुनाते। जिनके पात्र मुख्यतः पशु–पक्षी होते थे। राजकुमार इन कहानियों को बड़े ध्यान से सुना करते थे। फलस्वरूप कुछ ही समय में तीनों सफल जीवन के गुणों से परिचित हो गए। लोक व्यवहार, आत्मविश्वास, सम्पन्नता, दृढ़संकल्प, मित्रता और विद्या के सही संयोग से ही मनुष्य सुखी जीवन जी सकता है। इसी कौशल को इन कहानियों में उतारा गया है। शीघ्र ही राजकुमारों ने रुचि लेना आरम्भ कर दिया तथा नीति सीखने में सफलता प्राप्त की।

लिपियों का विकास और मानव सभ्यता

रितु मिश्र

लिपि मानव सभ्यता का एक अहम और अभिन्न हिस्सा है, जो हर व्यक्ति को अपनी भावनाओं और विचारों को अद्वितीय तरीके से सभी के सामने व्यक्त करने के लिए माध्यम है। यदि भाषा नहीं होगी तो हम आपस में अपने विचार व्यक्त नहीं कर पाएँगे और अपने विचारों को एक गति नहीं दे पाएँगे। लिपि से ही भाषा को लिखित रूप दिया जाता है। किसी भाषा के लिखने के ढंग या भाषा की लिखावट को लिपि कहा जाता है। किसी ध्वनि या आवाज को लिखना हो, पढ़ना हो या उसे देखने योग्य बनाना, उसे लिपि कहते हैं। ध्वनियाँ अस्थायी होती है परंतु जो लिपि होती है, वो स्थाई होती है। हमारे वाणी से ध्वनि का संचार होता है परंतु ध्वनियों को लिपि के जरिये लिखित रुप प्रदान किया जाता है। लिपियों के विकास की परंपरा प्रायः क्रमानुसार होती है, उसमें सबसे पहले चित्रलिपि, सूत्रलिपि, प्रतीकात्मक लिपि तथा अक्षरात्मक लिपि से होते हुये अंत में वर्णात्मक लिपि के विकास को माना गया है। देवनागरी एक अक्षरात्मक लिपि है क्योंकि इसके सारे व्यंजन स्वरों के माध्यम से ही उच्चरित होते हैं।

एक अनुमान के आधार पर कहा जा सकता है कि विभिन्न जानकारियों को व्यवस्थित रखने एवं विचारों की अभिव्यक्ति के लिए लिखने की कला की उत्पत्ति भी हुई होगी। भारतवर्ष में लिपि का इतिहास बहुत पुराना है। लिपि के क्षेत्र में भारत विश्व गुरु रहा है। भारत के परंपरागत मान्यता के अनुसार लिपि के आविष्कारक स्वयं ब्रह्मा है। जिन्होंने ब्राह्मणी लिपि बनाई प्रारम्भ में जादू टोने के लिए खींची गई लकीरें, धार्मिक प्रतीकों के चित्र, पहचान के लिए बनाए गए घड़ों आदि के चित्र, किसी वस्तु को सजाने के लिए बनाए गए चित्र आदि लिपि के आरम्भिक रूप रहे होंगे। विद्वानों के मतानुसार भारत में लेखन कला का विकास ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में हुआ।

ध्वनि मूलक लिपि 'लिपि–विकास' की चरम परिणति मानी जा सकती है। इस लिपि के 'अक्षरात्मक लिपि' तथा 'वर्णनात्मक लिपि' रूप पाए जाते हैं। भारतीय दृष्टिकोण सदा अध्यात्मवादी रहा है। किसी भी भौतिक कृति को जो थोड़ी भी आश्चर्यजनक होती है तथा जिसमें नवीनीकरण रहता है उसे दैवीय कृति ही माना जाता है। यही कारण है कि आदि ग्रन्थ वेद को अपौरुषेय कहा जाता है, वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति ब्रह्मा से जोड़ी जाती है तथा भारतीय लिपि ब्राह्मी को ब्रह्मा द्वारा निर्मित बताया जाता है। भारतीय लेखन–कला के उद्भव के सम्बन्ध में भी भारतीय दृष्टिकोण कुछ इसी प्रकार का प्रतीत होता है। बादामी से ईसवी सन् 580 का एक प्रस्तर–खण्ड प्राप्त हुआ है जिसपर ब्रह्मा की आकृति बनी है। उनके हाथ में ताड़–पत्रों का एक समूह है। यह स्पष्ट पुरातात्विक प्रमाण है कि ब्राह्मा से ही लेखन–कला का सम्बन्ध जोड़ा गया है।

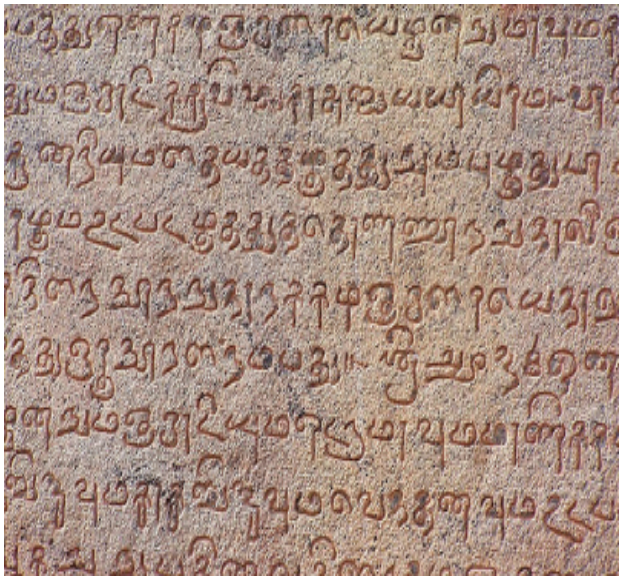

नारदस्मृति में लिपि के उद्भव के सम्बन्ध में एक श्लोक आया है–

ना करिष्यति यदि ब्रह्मा लिखितं चक्षुरुत्तमम्।
तदेयमस्य लोकस्य नाभविष्यत् शुभाङ्गतिः ।।

अर्थात् यदि ब्रह्मा 'लेखन' के रूप में उत्तम नेत्र का विकास नहीं करते तो तीनों लोकों को शुभ गति नहीं प्राप्त होती। वृहस्पति स्मृति में भी इसी प्रकार यह लिखा है कि पहले सृष्टि–कर्त्ता ने अक्षरों को पत्तों पर अंकित करने का विधान किया क्योंकि छः मास में किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में स्मृति विभ्रमित हो जाती थी। ऋग्वेद में ज्योतिष संबंधी अनेक सूक्त हैं जो अंकों के अविष्कार की सूचना देते हैं ऐतरेय ब्राह्मण में छंदों के अक्षरों का विश्लेषण है, जिससे वर्णमाला के विकास की सूचना मिलती है। संस्कृत ग्रंथों के प्रमाण–वाल्मीकि रामायण में हनुमान व सीता के बीच हुए संवाद में लिपि और भाषा के संकेत मिलते हैं। पाणिनि कृत 'अष्टाध्याई' में लिपि ग्रंथ और लिपिक जैसे शब्दों का प्रमाण मिला है। बौद्ध एवं जैन ग्रंथों के प्रमाण– 'समवायंणसूत्र' एवं 'पणवणासूत्र' में 18 लिपियों का वर्णन मिलता है जिनमें प्रथम नाम ब्राह्मी का है। बौद्ध ग्रंथ 'ललितविस्तार' सूत्र में भी भारत के 64 लिपियों का उल्लेख है।

मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा की खुदाई से अनेक मुहरे मिली इन मुहरों पर अंकित लिपि संकेत तथा चित्रों के आधार पर भारतीय लिपि की प्राचीनता सिद्ध हुई। सम्राट अशोक के शिलालेखों में मिली ब्राह्मी लिपि भी असंबंधित भाषाओं का प्रतिनिधित्व करती थी। ब्राह्मी लेखन प्रणाली की अचानक उपस्थिति भारत में लेखन के महान रहस्यों में से एक है। मौर्य साम्राज्य द्वारा ब्राह्मी लिपि पूरे भारत में फैली हुई थी, इसका

उपयोग उपमहाद्वीप के अभिजात वर्ग द्वारा किया जाता था। भारत में शास्त्र, मौखिक संस्कृति और क्षेत्रीय मतभेदों ने ब्राह्मी लिपि को भारत के विभिन्न क्षेत्रों में अलग–अलग लिपियों में विभेदित और विकसित किया। दक्षिण भारत में, लेखन के लिए उपयोग की जाने वाली सामग्री के रूप में ताड़ के पत्तों और उत्तर भारत में कपड़ा और छाल का उपयोग किया जाने लगा। अशोक के शिलास्तंभ अभिलेखों से स्पष्ट है कि ई.पू. चतुर्थ शताब्दी तक लिपि कला भारत में काफी विकसित हो चुकी थी। पिपरावा, बडली, सोहगौरा, महस्थान आदि में उपलब्ध अशोकपूर्वयुगीन लघु लेखों के आधार पर भारत में लिपिप्रयोग का कार्य ई.पू. 5वीं शती के पूवार्द्ध तक चला जाता है। प्राचीन यूनानी यात्री लेखकों के अनुसार कागज की और ई.पू. चतुर्थ शती में भारत को लेखन कला की अच्छी जानकारी थी। बौद्ध वाङ्मय के आधार पर ई.पू. 400 या उसके भी पहले ई.पू. छठीं शती तक उस जानकारी की बात प्रमाणित है। स्वयं 'पाणिनि' के धातुपाठ में 'लिपि' और 'लिबि' धातु हैं। डॉ. गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने अनेक शास्त्रीय ग्रंथों के आधार पर सिद्ध किया है कि 'पाणिनि' और 'यास्क' से भी अनेक शताब्दी पूर्व भारत में अनेक लिखित ग्रंथ थे और लेखन कला का प्रयोग भी होता था। ब्राह्मी लिपियों में प्रमुख विभाजन दक्षिणी भारतीय, दक्षिणपूर्व एशियाई लिपियों और उत्तरी भारतीय और तिब्बती लिपियों के बीच हुआ। क्षेत्रीय भाषाई भिन्नताओं ने भी दक्षिण और दक्षिण पूर्व एशिया दोनों में कई लिपियों में भारतीय लेखन के प्रसार में मदद की। ब्राह्मी की उत्तरी धारा में गुप्त लिपि, कुटिल लिपि, शारदा और देवनागरी को रखा गया है। दक्षिणी धारा में तेलुगु, कन्नड़, तमिल, कलिंग, ग्रंथ, मध्य देशी और पश्चिमी लिपि शामिल हैं। ब्राह्मी भारत की अधिकांश लिपियों की जननी है, ब्राह्मी लिपि शब्दांश लेखन प्रणाली की पुष्टि करती है और प्राकृत लिखने के लिए इसका अधिक उपयोग किया गया था, शुरू में आम लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा और बाद में संस्कृत भी इस लिपि में लिखी गई थी। पुरालेखों के अनुसार–सभी भारतीय लिपियाँ ब्राह्मी से ली गई हैं। लिपियों के दो मुख्य परिवार हैं। देवनागरी, जो उत्तरी और पश्चिमी भारत की भाषाओं का आधार है, जिसमें हिंदी, गुजराती, बंगाली, मराठी, डोगरी, पंजाबी, आदि शामिल है। द्रविड़, दक्षिण भारत की कई सम्बन्धित भाषाओं का समूह है। इसमें मुख्यतः तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम आती हैं। एक अन्य लिपि, उत्तर पश्चिमी पाकिस्तान और अफगानिस्तान की खरोष्ठी स्पष्ट रूप से फारसियों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली शाही आरमेइक लिपि से ली गई प्रतीत होती है, जिन्होंने सिकंदर के आने तक दो शताब्दियों तक सिंधु घाटी के कुछ हिस्सों पर शासन किया था। यह ब्राह्मी की बहन लिपि और समकालीन है। इसका उपयोग उत्तर–पश्चिमी भारत की गांधार संस्कृति में किया गया था और इसे कभी–कभी गांधारी लिपि भी कहा जाता है। इसके बाद समय आया गुप्त लिपि का इसे स्वर्गीय ब्राह्मी लिपि के नाम से भी जाना जाता है। इसका प्रयोग गुप्त काल में संस्कृत लिखने के लिए किया जाता था। इसने नागरी, शारदा और सिद्धम लिपियों को जन्म दिया जिसने बदले में भारत की सबसे महत्वपूर्ण लिपियों जैसे देवनागरी, बंगाली आदि को जन्म दिया। नागरी लिपि देवनागरी लिपि का प्रारंभिक रूप है। इसका उपयोग प्राकृत और संस्कृत दोनों लिखने के लिए किया जाता था। शारदा लिपि ब्राह्मण परिवार की लिपि थी, यह आठवीं शताब्दी के आस–पास विकसित हुई। इसका इस्तेमाल संस्कृत और कश्मीरी लिखने के लिए किया जाता था। सिद्धम लिपि छठी शताब्दी ईस्वी में पूर्वी भारत में प्रमुख थी जिससे गौड़ी लिपि का विकास हुआ। इसका उपयोग दो मुख्य भाषाओं बंगाली और असमिया से जुड़ा हुआ है।

गुजराती लिपि का उपयोग गुजराती और कच्छी भाषाओं को लिखने के लिए किया जाने लगा, यह देवनागरी लिपि का एक प्रकार है। दक्षिण भारत में ग्रंथ लिपि ब्राह्मी से उत्पन्न होने वाली सबसे प्रारंभिक दक्षिणी लिपियों में से एक है। यह तमिल और मलयालम लिपियों में विभाजित हो गया, जो अभी भी इन भाषाओं को लिखने के लिए उपयोग की जाती हैं। वट्टेघुत्तु लिपि भी ब्राह्मी से ली गई एक लिपि थी और भारत के दक्षिणी भाग में इसका उपयोग तमिल और मलयालम लिखने के लिए किया जाता था। कदम्ब लिपि भी ब्राह्मी लिपि से व्युत्पन्न एक लिपि है जिसे 'पूर्व–प्राचीन कन्नड लिपि' भी कहते हैं। इसी लिपि से कन्नड में लेखन का आरम्भ हुआ। कर्नाटक में संस्कृत ग्रंथों को लिखने के लिए कन्नड़ लिपि का व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है। भारत और श्रीलंका में तमिल भाषा लिखने के लिए इस्तेमाल की जाने वाली लिपि "तमिल लिपि" है। यह भी ब्राह्मी के दक्षिणी रूप से विकसित हुई। तेलुगु और मलयालम लिपि भी ब्राह्मी से उत्पन्न भारतीय लिपियां हैं। भारतीय लिपियों को इतने रूपों में विभेदित किया जाना, यह इंगित करता है कि साक्षरता व्यापक नहीं थी और कुछ व्यक्तियों तक सीमित थी, एक प्रवृत्ति जो संभवतः एक अखिल भारतीय ग्रहण के कारण तेज हो गई थी। पूरे भारत में एक आधुनिक, जन संस्कृति के उद्भव से पहले, लेखन शैली और लिपियाँ कुछ क्षेत्रों और यहाँ तक कि कुछ जातियों के लिए ही थीं। जिसमें शास्त्री और व्यापारी अक्सर अपनी स्वयं की लिपियों का उपयोग करते थे। यद्यपि संसार भर में प्रयोग हो रही भाषाओं की संख्या अब भी हजारों में है, तथापि इस समय इन भाषाओं को लिखने के लिये केवल लगभग दो दर्जन लिपियों का ही प्रयोग हो रहा है और भी गहराई में जाने पर पता चलता है कि संसार में केवल तीन प्रकार की ही मूल लिपियाँ (या लिपि परिवार) हैं–चित्रलिपि ,चीन, जापान एवं कोरिया में प्रयुक्त लिपियाँ, ब्राह्मी से व्युत्पन्न लिपियाँ देवनागरी तथा दक्षिण एशिया एवं दक्षिण–पूर्व एशिया में प्रयुक्त लिपियाँ तथा फोनेशियन से व्युत्पन्न लिपियाँ– सम्प्रति यूरोप, मध्य एशिया एवं उत्तरी अफ्रीका में प्रयुक्त लिपियाँ ये तीनों लिपियाँ तीन अलग–अलग क्षेत्रों में विकसित हुईं जो पर्वतों एवं मरुस्थलों द्वारा एक–दूसरे से अलग–अलग स्थित हैं।

भोज का युक्तिकल्पतरु और नौका शास्त्र

राजेंद्र वर्मा

वेदों में इस बात के यथेष्ट प्रमाण हैं कि वैदिक युग में भारतवासी आर्य व्यापार–वाणिज्य आदि के लिए समुद्र–यात्रा करते थे। भारतवासियों ने जहाज बनाने का काम विदेशियों से नहीं सीखा। जिस समय अन्य देशो में रहनेवाले लोग असभ्य और बर्बर थे उस समय भारतवासी सभ्यता के ऊँचे शिखर पर पहुँच गये थे। उन्होंने, उसी समय, संसार की सारी जातियों के सम्मुख अपना श्रेष्ठत्व सिद्ध कर दिया था। तरह–तरह की व्यापारोपयोगी चीजें वे नौकाओं और जहाजों द्वारा, अपने देश के भिन्न–भिन्न स्थानों को पहुँचाते थे। साथ ही द्रव्योपार्जन के निमित्त वे समुद्र–यात्रा करके विदेशों में भी पहुँचते थे। वैदिक साहित्य में जहाजों के आने जाने के मार्ग का, अनेक प्रकार के समुद्रगामी जहाजों का समुद्र में पैदा होनेवाली वस्तुओं का, तथा समुद्र–यात्रा और जहाजों के तबाह होने आदि का वर्णन है। इस से स्पष्ट है कि बहुत समय पहले वैदिक युग में भी हिन्दुओं को विदेश को व्यापारोपयोगिनी सब वस्तुओं का पूरा पूरा ज्ञान था। वेदों के अनेक सूक्तों में इस बात के अनेक प्रमाण मौजूद हैं। 'नौ' शब्द ऋग्वेद में और अन्यत्र भी नौका या जहाज के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। बहुत जगहों में 'न' या 'नौका' का प्रयोग नदी पार करने के लिए किया गया है। यद्यपि गंगा–यमुना के सदृश बड़ी–बड़ी नदियाँ पार करने के लिए बड़ी–बड़ी नावों की जरूरत पड़ती थी, तथापि जहाजों का विशेष प्रयोग न होता था। 'नौ' शब्द से लकड़ी की बनी हुई सब प्रकार की नौकाएँ समझी जाती थी।

विलसन कहते है कि वैदिक युग में समुद्रगामी जहाजों का विशेष उल्लेख नहीं पाया जाता। यहाँ तक कि जहाज के मस्तूल और पाल आदि उपकरणों का भी कोई वर्णन नहीं। उस समय जहाजों और नावों का एक मात्र आधार पतवार था। किन्तु उनकी यह बात हम किसी प्रकार स्वीकार नहीं कर सकते। वैदिक युग में सामुद्रिक व्यवसाय होता था। उस समय जहाजों के पात्र और मस्तूल आदि का भी अभाव न था। इसके अलावा अनेक भारतीय पौराणिक ग्रंथों में महासागर, समुद्र और नदियों से जुड़ी ऐसी अनेकानेक घटनाओं का उल्लेख है, जिससे यह पता चलता है कि भारतीयों को नौकायान का ज्ञान आदिकाल से ही रहा है। भारतीय साहित्यकला, मूर्तिकला, चित्रकला और पुरातत्व–विज्ञान से प्राप्त अनेक साक्ष्यों से भारत की समुद्री परंपराओं का अस्तित्व प्रमाणित होता है। आर्यभट्ट और वराहमिहिर इन दो विद्वानों ने नक्षत्रों की पहचान कर सागर यात्रा के मानचित्रों का (नक्शे का) निर्माण किया था। इन मानचित्रों के लिए एक मत्स्य यंत्र का प्रयोग किया जाता था। जिसे हम आधुनिक काल के 'मैगनेटिक कम्पास' का प्रारंभिक रूप कह सकते हैं। इस यंत्र में लोहे की एक मछली तेल जैसे द्रव्य पर तैरती रहती थी वह सदैव उत्तर दिशा की तरफ मुंह किए रहती थी। यानी वह उत्तर दिशा दिखाने वाली दिशादर्शक थी। मालवा के राजा भोज ने ज्ञान–विज्ञान के संदर्भ में अनेक ग्रंथ लिखे। वे नौका विशेषज्ञ भी थे, उनके ग्रंथों में वर्णित उल्लेखों से ऐसा पता चलता है। उन्होंने ही 'युक्तिकल्पतरु' ग्रंथ का निर्माण किया जिसमें नौकाशास्त्र की विस्तृत जानकारी है। 'युक्तिकल्पतरु' में नौका के प्रकार बताए गए हैं। एक, सामान्य नौकाएँ वे नौकाएँ, जो साधारण नदियों में चल सकें और दूसरी, विशेष नौकाएँ जिनके द्वारा समुद्र यात्रा की जा सके, इसका वर्णन इसमें है। छोटी एवं लंबी यात्राओं के लिए छोटे और बड़े, अलग–अलग क्षमता वाले जहाजों का निर्माण कैसे किया जाता है, इसका वर्णन इस ग्रंथ में है। जहाज निर्माण के विषय पर प्राचीन ग्रंथों में इस ग्रंथ को प्रमाण माना जाता है। अलग–अलग प्रकार के जहाजों के लिए भिन्न–भिन्न प्रकार की लकड़ियों का चयन कैसे किया जाए, इससे प्रारंभ करते हुए विशिष्ट क्षमता वाले जहाज एवं उनका पूरा ढाँचा कैसे निर्मित किया जाए, इसका सारा गणित इस ग्रंथ से प्राप्त होता है। इसी ग्रंथ में उन्होंने चेतावनी भी दी है कि नौका में लोहे का प्रयोग न किया जाए, क्योंकि संभव है कि समुद्री चट्टानों में कहीं चुम्बकीय शक्ति हो। तब वह उसे अपनी ओर खींचेगी, जिससे जहाज को संकट हो सकता है। इस ग्रंथ के लिखे जाने से डेढ सहस्र वर्ष पूर्व भी

भारतीय जहाज पूरे विश्व में भ्रमण करते थे। अर्थात् यह 'युक्तिकल्पतरु' ग्रंथ कुछ नया शोध नहीं करता। परंतु जो ज्ञान पहले से भारतीयों के पास था, उसे लिपिबद्ध करता है। क्योंकि भारतीयों को नौकाशास्त्र का ज्ञान प्राचीन काल से ही था। कथासरितसागर नामक ग्रंथ में उच्च कोटि के श्रमिकों का उल्लेख किया गया है। उससे पता चलता है, कि काष्ठ का काम करनेवालों को राज्यधर और प्राणधर कहा जाता था। ये समुद्र पार करने के लिए रथों का निर्माण करते थे तथा एक सहस्र यात्रियों को लेकर उड़ने वाले विमान भी बना सकते थे। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में कौटिल्य अर्थशास्त्र में राज्य की ओर से नाव के पूरे प्रबंध के संदर्भ में जानकारी मिलती है। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में चंद्रगुप्त मौर्य के कालखंड में भारत के जहाज विश्व प्रसिद्ध थे। इन जहाजों द्वारा पूरे विश्व में भारत का व्यापार चलता था। इस विषय में अनेक ताम्रपत्र और शिलालेख प्राप्त हुए हैं। बौद्ध प्रभाव वाले कालखंड में, बंगाल में सिंहबाहू नामक राजा के शासनकाल में सात सौ यात्रियों को लेकर एक जहाज के श्रीलंका प्रवास पर जाने का उल्लेख मिलता है। ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में कुषाण काल एवं हर्षवर्धन काल में भी समुद्री व्यापार की समृद्ध परंपरा का उल्लेख मिलता है। 5वीं सदी में हुए वराहमिहिर कृत बृहत् संहिता मे भी इसकी जानकारी मिलती है।

इससे हमें प्राचीन भारत की नौकायान परंपरा की समृद्धि की जानकारी मिलती है। भारत तीन ओर से सागर से घिरा है। इन सागरों में अनेक बंदरगाह हैं। वहाँ चारों ओर हिन्दू संस्कृति के प्रमाण मिलते हैं। क्या इसका अर्थ यह है, कि भारत की संस्कृति नौकानयन संस्कृति के सहारे ही वहाँ पहुँची। विजय नगर साम्राज्य स्थापित होने के उपरांत उस राज्य ने दक्षिण भारत में अनेक विशाल और सुंदर बंदरगाहों का निर्माण किया तथा पूर्व एवं पश्चिम दोनों ही दिशाओं में व्यापार आरंभ किया। शांतिपूर्ण और समृद्ध संस्कृति के बल पर पूरा दक्षिण–पूर्व एशिया धीरे–धीरे भारतीय विचारों को अपना मानने लगा था। अब एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि जब बड़े स्तर पर हिन्दू राजा आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु इत्यादि राज्यों से दक्षिण–पूर्व एशिया के देशों में गए, तो वे कैसे गए होंगे? स्वाभाविक है कि समुद्र मार्ग से ही गए होंगे। इसका अर्थ प्राचीन काल से अब तक व्यापार के लिए भारतीय समुद्री रास्तों का प्रयोग करते थे। अर्थात उस कालखंड में भारत में नौकायन शास्त्र अत्यंत उन्नत स्थिति में था। सागर की यह यात्रा प्रगत नौकानयन का ही उदाहरण है। जावा, सुमात्रा, मलय, सिंहपुर, सयाम, यवद्वीप इत्यादि सभी तत्कालीन देश, जो वर्तमान में इंडोनेशिया, मलेशिया, सिंगापुर, थाईलैंड, कम्बोडिया, विएतनाम आदि नामों से जाने जाते हैं, इन सभी देशों पर प्राचीन भारतीय संस्कृति के चिन्ह आज भी विद्यमान हैं। दो–ढाई सहस्र वर्ष पूर्व दक्षिण भारत के राजा इन प्रदेशों में गए थे। एक समय ये भारत के ही द्वीप थे। कम्बोडिया ने अपने देश के राष्ट्रध्वज पर अंकोरवट मंदिर का चित्र अंकित किया है और उसके ब्रुनेई देश ने अपनी राजधानी का नाम 'बन्दर सेरी भगवान' अर्थात 'देवताओं की आभा' रखा है, उस कालखंड की भारतीय नौकाओं एवं नाविकों के अनेक चित्र एवं मूर्तियाँ कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बाली जैसे स्थानों पर दिखाई देती हैं। उस काल में भी कम से कम पाँच सौ यात्रियों को ले जाने की क्षमता वाली नौकाओं का निर्माण भारत में होता था। उस समय उफनते समुद्र में, आज जैसे आधुनिक मौसम यंत्र एवं यात्रा संबंधी विभिन्न साधनों के न होने के पश्चात भी इतनी दूर के देशों तक पहुँचना, उन देशों से संबंध बनाना, वहाँ पर व्यापार करना, उन देशों से निरंतर संपर्क बनाए रखना, इससे सिद्ध होता है कि भारतीयों का नौकायन शास्त्र उन दिनों अत्यधिक प्रगत और विकसित रहा होगा।

गुजरात में पुरातत्व विभाग ने प्राचीन काल में बंदरगाह होने की जानकारी खोज निकाली थी। क्या यह सच है ? जी, यह सच है। गुजरात के 'लोथल' में पुरातत्व विभाग द्वारा उत्खनन किया गया था। लोथल भले ही एकदम समुद्र के किनारे पर स्थित नहीं है, परंतु समुद्र की एक छोटी पट्टी लोथल तक आई हुई है। पुरातत्व विभाग के उत्खनन में यह सामने आया कि लगभग साढे तीन सहस्र वर्ष पूर्व लोथल एक वैभवशाली बंदरगाह था। इस स्थान पर अत्यंत उन्नत एवं स्वच्छ उत्तम नगर संरचना स्थित थी। उत्खनन से प्राप्त अवशेषों में इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बातें ये निकलकर आईं कि लोथल में जहाज निर्माण का कारखाना था। लोथल से अरब देशों एवं इजिप्ट देश में बड़े स्तर पर व्यापारिक गतिविधियों के भी प्रमाण मिले। वर्ष 1855 में लोथल में किए उत्खनन के कारण विश्व के सामने इस ज्ञान के द्वार खुल गए। इस खुदाई से पता चला कि समुद्र के किनारे स्थित न होने के पश्चात भी लोथल में नौकायन विज्ञान इतना समृद्ध था और वहाँ नौकायन से संबंधित इतनी गतिविधियाँ निरंतर चलती रहती थीं, तो गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक और केरल जैसे दूसरे पश्चिमी राज्यों के समुद्र किनारों पर, इस बंदरगाह से भी अधिक कितनी सरस एवं समृद्ध संरचनाएँ रही होंगी। आज मुंबई से निकट थाने जिले में 'नालासोपारा' शहर है वहाँ पर लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष पूर्व 'शुर्पारक' नामक वैभवशाली बंदरगाह था। इस स्थान पर भारत के जहाजों के अतिरिक्त अनेक देशों के जहाज व्यापार करने आते थे। इसी प्रकार महाराष्ट्र के दाभोल और गुजरात के सूरत में भी था।

मुस्लिम आक्रमण के उपरांत भारतीय नौकायनशास्त्र समाप्ति की दिशा में जाना प्रारंभ हुआ। ग्यारहवीं शताब्दी में जो नौकायनशास्त्र शीर्ष पर था, वह धीरे–धीरे अशक्त होने लगा। मुगलों के आक्रमण के उपरांत उन्होंने हिन्दू राजाओं से निःशुल्क मिले जहाजों को ठीक से तो रखा परंतु उनमें कोई वृद्धि नहीं की। दो सौ वर्षों का विजयनगर साम्राज्य अपवाद रहा। उन्होंने भारत के पूर्वी एवं पश्चिमी, दोनों समुद्र किनारों पर जहाज निर्माण के कारखाने आरंभ किए। तेरहवीं शताब्दी तक हिन्द महासागर पर भारतीयों के वर्चस्व के उल्लेख पाए जाते हैं।

कला का विज्ञान से सम्बन्ध

मनीष रत्नपारखी

इन पारिभाषिक विवेचनाओं के आधार पर हम पाते हैं कि कला के साथ संस्कृति और विज्ञान का गहरा सम्बन्ध रहा है। पुरातत्वशास्त्र के माध्यम से कला की जो भी धरोहर हमारे समक्ष मौजूद है उसे देखकर स्पष्ट होता है कि यहाँ के लोगों के जीवन में सिन्धुकाल से ही कला के प्रति विशेष लगाव रहा। हड़प्पा से प्राप्त नृत्यमुद्रा में पुरुष धड़ और मोहनजोदड़ो से प्राप्त नृत्यमुद्रा में युवती को देख इस तथ्य को समझा जा सकता है। मोहनजोदड़ो के घरों में बने हुए सुन्दर स्नानागार, खुदाई से प्राप्त आभूषण, तराश कर बनाए गए हारों के मनके कड़े और चूड़ियाँ आदि इस बात के साक्षी हैं कि पुरुष और स्त्रियाँ दोनों ही सौन्दर्य और अलंकरण में पर्याप्त रुचि रखते थे। सिन्धु भांडों पर की काली लिखाई के अन्तर्गत रेखा और उपरेखाओं का सरल किन्तु दृढ़ प्रयोग हुआ है। पेड़–पौधे, फूल–पत्ती, उड़ते हुए पक्षी, तैरती हुई मछलियाँ, भागते और उछलते हुए पशु–इन विविध आकृतियों से यह लिखाई सुशोभित है। आड़ी–तिरछी, खड़ी–पड़ी रेखाओं के सम्मिलन से शुल्बाकृतियों की जो सजावट की गई है। उससे कलाकारों की बढ़ी–चढ़ी कुशलता के प्रमाण मिलते हैं। वृक्ष–वनस्पति और पशु–पक्षी जगत के साथ भारतीय कला का अद्‌भुत सम्बन्ध रहा है।

सिन्धुवृषभ भी कला की दृष्टि से बड़े जानदार हैं। वैदिककालीन लकड़ी एवं धातु के खिलौने, कच्ची दीवारों को विभिन्न रीतियों से रँगना और चित्रकला से सजाना एवं यज्ञ जैसे सामुदायिक धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए शिल्पकला, चित्रकला तथा स्थापत्यकला का प्रयोग– ये सारे कला एवं शिल्प के विषय से सम्बन्ध रखते हैं। यही पद्धति थोड़ा–बहुत बदलाव के साथ आगे बढ़ती रही। चाक पर बड़ी खूबसूरती से बने भांडों पर फूलपत्ती और ज्यामितिक डिजाइनें कला की विशेषताएँ हैं। ई.पू. 5वीं शताब्दी से शिल्प का महत्व बढ़ने लगा। सौन्दर्य विधान और रूप समृद्धि की ओर इन शिल्पियों का विशेष लक्ष्य था। कला में वाय अलंकरण और सजाव प्रवृत्ति को और भी विशेषताएँ प्राप्त एक श्रेणी या समुदाय के अन्तर्गत परिवारों के व्यक्ति इसी शिल्पगत व्यवसाय को अपनाकर उसमें दक्षता प्राप्त करते और नवीन आविष्कारों के द्वारा उस शिल्प की उन्नति और रक्षा करते थे। एक–एक श्रेणी शिल्प विशेष के लिए एक विद्यालय के रूप में परिणत हो गई जो पुश्त–दर–पुश्त नया जीवन प्राप्त करके बढ़ती चली जाती और शिल्पविशेष की अपनी साधना को भूत से भविष्य में नियम भी इन श्रेणियों आगे बढ़ाती चलती थी। नव–कर्मियों के लिए शिल्प सीखने और सिखाने के द्वारा निश्चित कर दिए गए। अधिकांश में परिवार के अन्तर्गत पुत्र पिता से शिल्प की शिक्षा प्राप्त करता चलता था। मौर्यकाल में ईरान, यूनान और भारतीय संस्कृतियों का सम्मिलन और पारस्परिक आदान–प्रदान हुआ। इस समय कला की मुख्य विशेषता धार्मिक एवं दार्शनिक अनुभूतियों का चिन्हों के द्वारा अंकन थी। मौर्यकालीन रजत सिक्कों पर सैकड़ों प्रकार के चिह्न आहत विधि से लगाए गए। सूर्य, षड्‌चक्र, चौत्य, वैजयन्ती, वृक्ष, वृषभ, द्विरद, मयूर, शशक, सरोवर आदि अनेक प्रकार की आकृतियों की रेखाएँ कला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर और निपुणता की सूचक है। स्थापत्यकला से भी चिह्नों की यह परम्परा प्राप्त होती है। चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा काष्ठ और ईट से निर्मित पाटलिपुत्र का राजप्रासाद कला का अतिविशिष्ट उदाहरण था। भारतीय कला को काठ, मिट्टी, ईंट, पुआल, गोवर तथा अन्य अस्थायी सामग्रियों के दायरे से बाहर निकालने में अशोक की भूमिका महत्वपूर्ण रहीं। उसने पहली बार पत्थरों पर और विराट आकारों एवं अनुपातों में कुछ ऐसी चीजें अंकित कर दीं जो बाद के कालों में भी अपना अस्तित्व बनाए रहे।

पाटलिपुत्र का स्तम्भयुक्त प्रांगण अशोक के निर्देशन में बनाया गया था। स्तम्भ दो प्रकार के बने थे–धार्मिक और राजनीतिक। धार्मिक स्तम्भों का विकास सम्भवतः प्राचीनतम वैदिक यूपों से हुआ जिनसे यज्ञ में बलि के लिए पशु जाते थे। फिर इनका स्थान विष्णु आदि के स्मारक स्तम्भों ने ले लिया। राजनीतिक स्तम्भ विजयस्तम्भ या कीर्तिस्तम्भ कहलाए। चट्टानों में नक्काशी प्रारम्भ हुई। अशोक द्वारा निर्मित करीब 35 फीट और उससे भी अधिक ऊँचाई के स्तम्भाभिलेख पॉलिशदार, ऊँचे सुगठित और आकाश में उन्मुक्त खड़े हैं। सारनाथ का चतुष्पक्षीय सिंह बौद्ध संन्यासियों के सामने साम्राज्य की शान–शौकत और सा का प्रदर्शन करता है। यह सिंह शीर्ष पॉलिश किए हुए बलुआ पत्थर से निर्मित है और अब तक की मूर्तिशिल्प का अकेला नमूना है। ये चारों सिंह साम्राज्य की चारों दिशाओं में धर्म विजय की उद्‌घोषणा कर रहे हैं।

पुस्तक चर्चा/मिथिलेश यादव

नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र की वृहद व्याख्या

कौटिल्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र संस्कृत का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। जिसकी रचना चौथी सदी ईसा पूर्व मानी जाती है। इसमें राज्य व्यवस्था, कृषि, न्याय एवं राजनीति आदि के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया है। अपने तरह का (राज्य–प्रबन्धन विषयक) यह प्राचीनतम ग्रन्थ है। इसकी शैली उपदेशात्मक और सलाहात्मक है। यह प्राचीन भारतीय राजनीति का प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसके रचनाकार का व्यक्तिनाम विष्णुगुप्त, गोत्रनाम कौटिल्य (श्कुटिलश से व्युत्पन्न) और स्थानीय नाम चाणक्य (पिता का नाम श्चणकश होने से) था। अर्थशास्त्र में लेखक का स्पष्ट कथन हैः इस ग्रन्थ की रचना उन आचार्य ने की जिन्होंने अन्याय तथा कुशासन से क्रुद्ध होकर नन्दों के हाथ में गए हुए शस्त्र, शास्त्र एवं पृथ्वी का शीघ्रता से उद्धार किया था।

चाणक्य सम्राट् चंद्रगुप्त मौर्य के महामंत्री थे। उन्होंने चंद्रगुप्त के प्रशासकीय उपयोग के लिए इस ग्रंथ की रचना की थी। यह मुख्यतः सूत्रशैली में लिखा हुआ है और संस्कृत के सूत्रसाहित्य के काल और परम्परा में रखा जा सकता है। यह शास्त्र अनावश्यक विस्तार से रहित, समझने और ग्रहण करने में सरल एवं कौटिल्य द्वारा उन शब्दों में रचा गया है जिनका अर्थ सुनिश्चित हो चुका है। अर्थशास्त्र में समसामयिक राजनीति, अर्थनीति, विधि, समाजनीति, तथा धर्मादि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस विषय के जितने ग्रंथ अभी तक उपलब्ध हैं उनमें से वास्तविक जीवन का चित्रण करने के कारण यह सबसे अधिक मूल्यवान् है। इस शास्त्र के प्रकाश में न केवल धर्म, अर्थ और काम का प्रणयन और पालन होता है अपितु अधर्म, अनर्थ तथा अवांछनीय का शमन भी होता है। इस ग्रंथ की महत्ता को देखते हुए कई विद्वानों ने इसके पाठ, भाषांतर, व्याख्या और विवेचन पर बड़े परिश्रम के साथ बहुमूल्य कार्य किया है। शाम शास्त्री और गणपति शास्त्री का उल्लेख किया जा चुका है। यद्यपि कतिपय प्राचीन लेखकों ने अपने ग्रंथों में अर्थशास्त्र से अवतरण दिए हैं और कौटिल्य का उल्लेख किया है, तथापि यह ग्रंथ लुप्त हो चुका था। 1904 ई. में तंजोर के एक पंडित ने भट्टस्वामी के अपूर्ण भाष्य के साथ अर्थशास्त्र का हस्तलेख मैसूर राज्य पुस्तकालय के अध्यक्ष आर. शाम शास्त्री को दिया। शास्त्री ने पहले इसका अंशतः अंग्रेजी भाषान्तर 1905 ई. में 'इंडियन ऐंटिक्वेरी' तथा 'मैसूर रिव्यू' (1906–1909) में प्रकाशित किया। इसके पश्चात् इस ग्रंथ के दो हस्तलेख म्यूनिख लाइब्रेरी में प्राप्त हुए और एक संभवतः कलकत्ता में। तदनन्तर शाम शास्त्री, गणपति शास्त्री, यदुवीर शास्त्री आदि द्वारा अर्थशास्त्र के कई संस्करण प्रकाशित हुए। शाम शास्त्री द्वारा अंग्रेजी भाषान्तर का

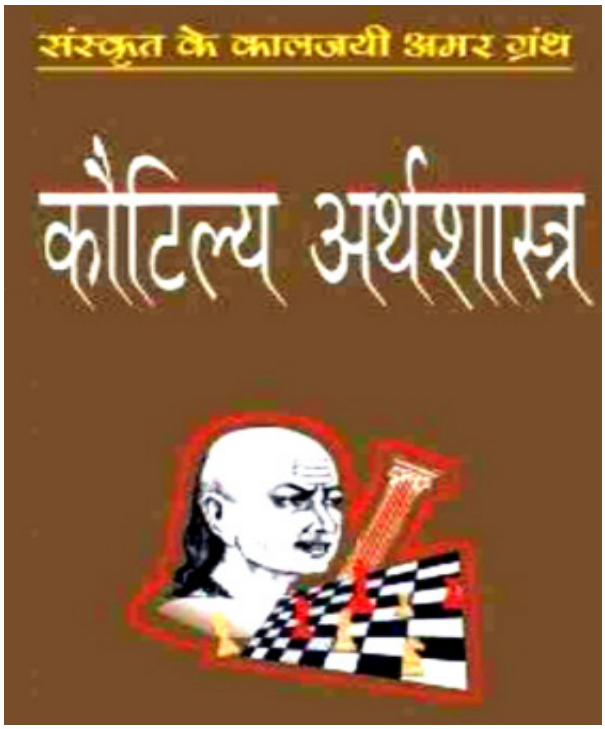

चतुर्थ संस्करण (1929 ई.) प्रामाणिक माना जाता है। पुस्तक के प्रकाशन के साथ ही भारत तथा पाश्चात्य देशों में हलचल–सी मच गई क्योंकि इसमें शासन–विज्ञान के उन अद्भुत तत्वों का वर्णन पाया गया, जिनके सम्बन्ध में भारतीयों को सर्वथा अनभिज्ञ समझा जाता था। पाश्चात्य विद्वान फ्लीट, जौली आदि ने इस पुस्तक को एक 'अत्यन्त महत्त्वपूर्ण' ग्रंथ बतलाया और इसे भारत के प्राचीन इतिहास के निर्माण में परम सहायक साधन स्वीकार किया।

अर्थशास्त्र में समसामयिक राजनीति, अर्थनीति, विधि, समाजनीति, तथा धर्मादि पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इस विषय के जितने ग्रंथ अभी तक उपलब्ध हैं उनमें से वास्तविक जीवन का चित्रण करने के कारण यह सबसे अधिक मूल्यवान् है। इस शास्त्र के प्रकाश में न केवल धर्म, अर्थ और काम का प्रणयन और पालन होता है अपितु अधर्म, अनर्थ तथा अवांछनीय का शमन भी होता है। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' राजनीतिक सिद्धांतों की एक महत्वपूर्ण कृति है। इस संबंध में यह प्रश्न उठता है कि कौटिल्य ने अपनी पुस्तक का नाम 'अर्थशास्त्र' क्यों रखा? प्राचीनकाल में 'अर्थशास्त्र' शब्द का प्रयोग एक व्यापक अर्थ में होता था। इसके अन्तगर्त मूलतः राजनीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कानून आदि का अध्ययन किया जाता था।

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ, स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग, मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक : श्रीराम तिवारी, समन्वयक : राजेश्वर त्रिवेदी.

आलेख सेवा निःशुल्क वितरण के लिए. फोन: 0734-2521499, 0755-2660407 Email:mvspujjain@gmail.com, vikramadityashodhpeeth@gmail.com